समाजसेवा के लिए सर्वस्व त्यागी—
महान् वैज्ञानिक प्रफुल्लचंद्र राय

सन् १८८६ का वर्ष था। इंगलैंड में रसायनशास्त्र की सर्वोच्च परीक्षा डी० एस-सी० पास करके एक बंगाली तरुण बंगाल के शिक्षा-विभाग के प्रधान अधिकारी मि० क्राफ्ट के सामने यह शिकायत करने पहुँचा कि जब उसकी योग्यता वाले अंग्रेजों को ११००-१२०० वेतन पर नियुक्त किया जाता है, उसको २५० रु० मासिक की सहायक प्रोफेसर की जगह ही दी जा रही है। मि० क्राफ्ट ने कुछ नाराजी के साथ कहा—"जिंदगी में सभी तरह के काम-धंधे तुम्हारे लिये खुले हैं। तुम इसी नौकरी को स्वीकार करो, इसके लिए तुम्हारे ऊपर किसी प्रकार का दबाव तो नहीं डाला जा रहा है। अगर तुम अपनी योग्यता को इतना अधिक समझते हो तो व्यावहारिक क्षेत्र में कोई स्वतंत्र कार्य करके उसे प्रकट करो।" अंग्रेज अफसर के ये व्यंगपूर्ण शब्द उसके कलेजे में चुभ गये, पर उस समय अपनी परिस्थिति को समझकर वह चुप रह गया और उसने कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कॉलेज में २५० रु० की नौकरी ही स्वीकार कर ली। पर साथ ही उसने यह भी स्वीकार कर लिया कि, अवसर पाते ही मैं इनको कोई स्वतंत्र काम करके दिखलाऊँगा।

कुछ ही समय में उसने अपने वेतन में से बचाकर सात-आठ सौ रुपए की रकम इकट्ठी कर ली और कुछ सच्चे सहकर्मी भी जुटा लिये। उन्होंने उस समस्या पर भी विचार किया कि हमारे गरीब देशवासियों को किन चीजों की आवश्यकता है और उनमें से हम किसको संतोषजनक रीति से बना सकते हैं। वह तरुण रसायनशास्त्र की जड़ी-बूटी शाखा का भी अच्छा जानकार था। इसलिए उसने भारतीय मैदानों और जंगलों में पाई जाने वाली जड़ी-बूटियों और औषधि के लिए प्रयुक्त होने वाले पेड़-पौधों से वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार ऐसी औषधियाँ तैयार की, जो कम मूल्य

की होते हुए भी तुरंत प्रभाव दिखलाने वाली थीं। इसके फल से जनता में औषधि निर्माण करने वाली इस नई संस्था—"बंगाल कैमिकल एंड फर्मास्यूटिकल वर्क्स" का नाम फैलने लगा और कुछ ही वर्षों में उसने एक बड़े कारखाने का रूप धारण कर लिया। वह निःस्वार्थ युवक उसकी आदमनी में से एक पैसा भी नहीं लेता था, वरन् अपने वेतन में से जो कुछ बचता था, उसे उस संस्था की उन्नति में ही लगाता रहता था। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही वह संस्था सर्वसाधारण की स्वास्थ्य-रक्षा में सहायक ही नहीं बन गई, वरन् पचासों होनहार किंतु साधनहीन युवकों को जीवन-क्षेत्र में आगे बढ़ने का आश्रय-स्थल भी सिद्ध होने लगी। होते-होते वह सात-आठ सौ रुपये की पूँजी से आरंभ की गई नगण्य संस्था आज करोड़ों की पूँजी के विशाल औद्योगिक संस्थान के रूप में परिणत हो चुकी है और देश की चिकित्सा संबंधी एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति कर रही है।

त्यागमय जीवन—

इस महत्त्वपूर्ण संस्था के संस्थापक थे— आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय (सन् १८६१ से १९४४) जो भारतवर्ष में रसायन-विज्ञान के सर्वप्रथम उच्चकोटि के ज्ञाता थे और जिनकी योग्यता को अंत में विदेशी सरकार ने भी स्वीकार करके 'सर' की उपाधि प्रदान की थी। यद्यपि इनके पश्चात् और भी कई भारतीयों ने विज्ञान में उल्लेखनीय प्रसिद्धि प्राप्त की थी और इनके समकालीन श्री जे० सी० बोस ने भी जीव-विज्ञान में बहुत अधिक नाम कमाया था, पर प्रफुल्ल बाबू ने इतनी अधिक विद्या और पदवी पाकर, उसको जिस तरह लोक कल्याण के उद्देश्य से उत्सर्ग कर दिया, उसका दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है। सन् १९०० में ही उनको प्रेसीडेंसी कॉलेज से ८०० रु० मासिक वेतन मिलने लग गया था, जो बाद में लगभग ड्यौढ़ा हो गया तथा पुस्तकों की रायल्टी और आविष्कार की गई औषधियों से भी काफी आमदनी होती थी, पर वे अपने निर्वाह के लिए सौ रुपये से भी बहुत कम खर्च करते थे, बाकी सब गरीब और योग्य विद्यार्थियों की सहायता करने में लगा देते थे। देश-सेवा के अन्य उपयोगी कार्य भी उनकी सहायता से वंचित नहीं रहते थे।

उनकी ऐसी सादी और गरीबों की-सी रहन-सहन को देखकर देशपूज्य गोखले जी उनको वैज्ञानिक-साधु' कहते थे और वे गोखले जी को 'राजनैतिक-साधु' कहते थे।

वास्तव में इन दोनों महापुरुषों ने अपना सर्वस्व देश-सेवा के दो विभिन्न क्षेत्रों में अर्पण कर दिया था और वे अपनी लगन के इतने पक्के थे कि उन्होंने इसी विचार से आजन्म विवाह नहीं किया। विवाह करने पर वे अपना निर्वाह इतने कम खर्च में और ऐसी सादगी से नहीं कर सकते थे। इस प्रकार उन्होंने अपनी समस्त शक्ति और साधनों को मातृभूमि के निमित्त ही सुरक्षित रख दिया और किसी को उसमें से हिस्सा नहीं बँटाने दिया। यह एक ऐसा आदर्श था, जिससे प्रत्येक देशवासी प्रेरणा ले सकता है। जब इतने बड़े विद्वान् और साधन-संपन्न व्यक्ति परोपकार को सर्वोच्च धर्म मानकर इतना अधिक त्याग कर सकते हैं, तो हम सबको भी उस मार्ग पर कुछ अंशों में तो चलना ही चाहिए। जो व्यक्ति इस कर्तव्यपालन से सर्वथा पृथक् और उदासीन रहते हैं, वे मनुष्य कहे जाने के भी अधिकारी नहीं हो सकते।

विद्या-प्रेम और उच्च आदर्श—

प्रफुल्ल बाबू का जन्म एक संपन्न परिवार में हुआ था। इनके पिता श्री हरिश्चंद्र राय खुलना जिला के रारुली गाँव के जमींदार थे। वे एक सुशिक्षित और सुधरे हुए विचारों के व्यक्ति थे और उस समय की परिस्थिति के अनुसार फारसी और अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान रखते थे। उन्होंने अपने ग्राम में कन्या पाठशाला भी स्थापित की थी, जो संभवतः समस्त बंगाल में पहली नारी-शिक्षा संस्था थी। पं० ईश्वरचंद्र विद्यासागर के विचारों से प्रभावित होकर वे विधवा विवाह के भी पक्षपाती हो गये थे और अपने गाँव में एक शिक्षक का विवाह एक विधवा युवती से कराना चाहते थे। पर इस समाचार के प्रकट होते ही रूढ़िवादी समाज में इतनी हलचल मची और विरोध किया जाने लगा कि विवश होकर यह विचार स्थगित कर देना पड़ा।

प्रफुल्ल बाबू की आरंभिक शिक्षा तो रारुली ग्राम की निजी पाठशाला में ही हुई थी, पर जब ये दस बरस के हुए तो इनके पिता अपने दोनों पुत्रों को उच्च शिक्षा प्राप्त कराने की दृष्टि से परिवार

सहित कलकत्ता चले आये। यहाँ दस वर्ष की आयु में प्रफुल्ल बाबू को 'हेयर स्कूल' में भरती कराया गया, जिसका पूरा नाम 'दी हिंदू कॉलेज ऑफ कलकत्ता' था। इसकी स्थापना सन् १८१७ में राजा राममोहन राय और डेविड हेयर नाम के घड़ी का काम करने वाले अंग्रेज ने मिलकर की थी। इस स्कूल की गिनती भारत के सर्वप्रथम अंग्रेजी स्कूलों में की जाती है और बंगाल के तत्कालीन बड़े-बड़े नेता इसी विद्यालय के छात्र थे।

जब गाँव का कोई लड़का नया-नया आकर शहर के स्कूल में पढ़ने लगता है, तो प्रायः शहरी छात्र उसकी तरह-तरह से हँसी उड़ाते हैं। जब उनको मालूम हुआ कि प्रफुल्ल बाबू पूर्व बंगाल के खुलना जिले के निवासी हैं, तो उस प्रांत के निवासियों के जो-जो दोष सर्व साधारण में प्रसिद्ध थे, उन्हीं सबका आरोप इन पर करके तरह-तरह के हास्यपूर्ण नाम रखकर इनको चिढ़ाने की कोशिश करने लगे। पर ये इन बातों की तरफ ध्यान न देकर परिश्रमपूर्वक पढ़ाई संबंधी बातों में ही रुचि लेते थे। पढ़ने की अभिरुचि इनमें अपने पिता के संस्कारों से ही उत्पन्न हो गई थी, जो उस जमाने में कितने ही सामयिक पत्रों के ग्राहक थे और अपनी लायब्रेरी में बंगाली और अंग्रेजी की नई-नई अच्छी पुस्तकें लाकर रखा करते थे। इसका प्रभाव प्रफुल्ल बाबू पर कितना अधिक पड़ा था, इसका वर्णन करते हुए उन्होंने स्वयं अपनी आत्म-कथा में लिखा है—

"हमारे स्कूल की परीक्षा लेने को प्रेसीडेंसी कॉलेज के प्रोफेसर आया करते थे। इतिहास और भूगोल मेरे प्रिय विषय थे, इसलिये इन विषयों में, मैं अपने सभी साथियों से आगे निकल जाता था। दो वर्ष तक तो मुझे इतिहास की परीक्षा में पूरे-पूरे नंबर मिले थे।"

"स्कूल में पढ़ाई के लिए नियत पाठ्य पुस्तकों से मेरी 'भूख' कभी दूर नहीं होती थी। पुस्तकों की तरफ मुझे बहुत अधिक आकर्षण था। मैं संभवतः १२ वर्ष से भी कम आयु का था कि प्रायः प्रातःकाल तीन-चार बजे उठकर ही अपनी पसंद की विविध पुस्तकें पढ़ने लग जाता। आगे चलकर मैंने इस आदत को छोड़ दिया, क्योंकि मैंने देखा कि इससे स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचता है और अंत में कोई लाभ भी नहीं निकलता। पर इतिहास और जीवन चरित्र

की पुस्तकें पढ़ने का तो मुझे अभी भी बड़ा शौक है। 'चेंबर' का 'जीवन चरित्र संग्रह' मैंने कितनी ही बार आदि से अंत तक पढ़ डाला। न्यूटन और गैलिलियो के जीवन-चरित्रों के पढ़ने में मुझे बड़ा ही आनंद आता था, यद्यपि उस समय मैं यह नहीं समझ पाता था कि इन्होंने दुनिया को जो कुछ दिया उसका क्या मूल्य है ? सर विलियम जोन्स, लीडन और बेंजामिन फ्रेंकलिन के चरित्रों का मेरे ऊपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। जोन्स की माता उससे कहा करती थी कि—"पढ़ते रहो, तुमको ज्ञान हो जायेगा"—उस महिला का यह उत्तर मेरे लिए भी सदैव सत्य प्रमाणित हुआ। बेंजामिन फ्रेंकलिन का चरित्र तो मुझे बहुत छोटी अवस्था से ही अत्यंत प्रिय था और सन् १९०५ में जब मैं दूसरी बार योरोप-यात्रा को गया तब मैंने फ्रेंकलिन के जीवन-चरित्र की पुस्तक मँगाकर उसे बार-बार पढ़ा। पेन्सिलवेनिया (अमेरिका) का यह निवासी अल्प वेतन पाने वाले कंपोजीटर की नौकरी से केवल अपने परिश्रम तथा उत्साह द्वारा किस प्रकार उन्नति करते देश का बहुत बड़ा नेता बन गया, यह बात मुझे हमेशा शिक्षाप्रद और प्रेरणादायक अनुभव होती थी।

समाज-सुधार की भावना—

"कदाचित् पाठकों को विचित्र जान पड़ेगा पर सच्ची बात यह है कि मैं अनजाने ही बचपन से "ब्रह्म समाज" (एक समाज सुधारक संस्था) की तरफ आकर्षित होने लगा था। यद्यपि मेरे पिता का घरेलू रहन-सहन सामान्य हिंदुओं की तरह ही था, पर हृदय से वे पक्के समाज-सुधारक थे। आदि ब्रह्म समाज की मुखपत्रिका "तत्त्व बोधिनी पत्रिका" सदैव उनके पढ़ने के टेबिल पर रखी रहती और देवेंद्रनाथ ठाकुर, केशव चंद्र सेन, राजनारायण बसु, अयोध्यानाथ, अक्षय कुमार दत्त आदि की रचनाओं को भी वे पढ़ते रहते थे। ये ही सब मेरे भी धार्मिक श्रद्धा के आधार बन गये। मेरे ऊपर पहले से किसी 'गुरु' या नामधारी व्यक्ति का कुछ प्रभाव न था और 'धर्म' तथा 'ईश्वर' किसी गूढ़ शक्ति द्वारा प्रगट हुए हैं, इस पर मेरी जरा भी श्रद्धा न थी। वर्तमान समय में प्रचलित जाति प्रथा और अस्पृश्यता का विचार मुझे व्यर्थ जान पड़ता था। अनिवार्य वैधव्य, बाल-विवाह और इसी प्रकार की अन्य हानिकारक रिवाजों को मैं उपेक्षा की दृष्टि से देखता था।

मेरे पिता कभी-कभी कहा करते थे कि, कम से कम मेरे एक पुत्र को तो विधवा-विवाह करना ही चाहिए और इसके लिए वे मेरी तरफ खास तौर से देखने लगते थे।"

इस प्रकार प्रफुल्ल बाबू बाल्यावस्था से ही कुरीति निवारक और सुधारप्रिय व्यक्तियों के संपर्क में आ गये और उनकी यह भावना उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। कुछ ही समय पश्चात् बंगाल के सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक श्री केशवचंद्र सेन ने विलायत से लौटकर 'सुलभ-समाचार' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाला, जिसमें आधुनिक विचारों के लेख ही भरे रहते थे। प्रफुल्ल बाबू उसे बड़े उत्साह से पढ़ते थे और 'नवीन ब्रह्म समाज' में जाकर, वहाँ होने वाले प्रवचनों को भी ध्यानपूर्वक सुनते थे।

विद्याभ्यास का प्रेम—

प्रफुल्ल बाबू को छोटी अवस्था से ही सभी विषयों की पुस्तकें पढ़ने और ज्ञान-वृद्धि करने का बड़ा शौक था। संयोग से इनके पिता भी पुस्तक प्रेमी थे, इसलिए इन्हें घर के पुस्तकालय में ही मनचाही पुस्तकें मिल जाती थीं, जिससे अपने समय का अधिक से अधिक सदुपयोग कर सकते थे। तेरह वर्ष की आयु में, जबकि वे हेयर स्कूल में पढ़ते थे, इनको पेट के दर्द की शिकायत हो गई और वह इतनी बढ़ी कि इनका स्कूल से नाम कटाकर सात-आठ महीने तक घर पर ही रहना पड़ा। वैसे तो यह सब दुर्भाग्य ही था, पर इन्होंने इस समय को विविध विषयक साहित्य के पढ़ने में लगाकर इतनी ज्ञान वृद्धि कर ली जितनी उनसे बहुत बड़े लड़कों को भी हो सकनी कठिन थी। उसी पुस्तकालय में इनको 'लैटिन स्वयं शिक्षक' और "फ्रेंच स्वयं शिक्षक" पुस्तकें भी मिल गईं, जिनसे इन्होंने इन दोनों भाषाओं का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लिया। परिणाम यह हुआ कि ये फिर जब स्कूल में गये तो शिक्षकों को इनकी योग्यता अन्य लड़कों से बहुत अधिक जान पड़ी और वे इनकी प्रगति में विशेष ध्यान देने लगे। इसी प्रकार अपनी योग्यता को बढ़ाते हुए ये मैट्रिक पास करके कॉलेज में जा पहुँचे।

स्वावलंबन और मितव्ययिता का जीवन—

पर इस समय इनके ऊपर एक कठिनाई आ पड़ी। इनके पिता हरिश्चंद्र बाबू की आर्थिक स्थिति में एकाएक परिवर्तन हो गया और उनको एक-एक करके अपनी कई जमींदारियाँ बेच देनी पड़ी। इसके फलस्वरूप वे कलकत्ते का मकान छोड़कर अपने देहात को चले गये और प्रफुल्ल बाबू को पढ़ाई के लिए कलकत्ता में अकेला रहना पड़ा।

अब वे पं० ईश्वरचंद्र विद्यासागर द्वारा स्थापित 'मेट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट' में दाखिल हो गये। इस विद्यालय का एक उद्देश्य उच्च और माध्यमिक शिक्षा को सस्ता बनाना भी था। इसलिए वहाँ यह नियम था कि कोई भी विद्यार्थी ३ रु० मासिक फीस देकर कुछ भी पढ़ सकता था। वह संस्था उस समय के अनुसार राष्ट्रीय विचारों की पोषक थी और श्री सुरेंद्रनाथ बनर्जी जैसे विद्वान् और सार्वजनिक भावना वाले कार्यकर्ता अंग्रेजी के प्रोफेसर थे। उस जमाने में कॉलेज-पाठ्यक्रम के प्रथम वर्ष में रसायनशास्त्र पढ़ना अनिवार्य था। प्रफुल्ल बाबू किसी विषय को मामूली तरह तो पढ़ना पसंद ही नहीं करते थे, इसलिए रासायनशास्त्र की शिक्षा के लिए विशेष रूप से प्रेसीडेंसी कॉलेज में जाने लगे। कुछ समय में इनको इस विषय का इतना शौक लग गया कि एक साथी ढूँढ़कर उसके घर पर एक निजी 'प्रयोगशाला' कायम कर ली। उसमें एक दिन ऐसी दुर्घटना हो गई कि ये दोनों बाल-बाल बचे। इन्होंने अपने 'हाइड्रोजन' संबंधी प्रयोगों के लिए बाजार से एक बर्तन बनाने वाले से एक नली बनवा ली थी। पर परीक्षण के समय उसकी बनावट कच्ची निकली और हाइड्रोजन की नली में ऑक्सीजन पहुँच गया, जिससे बहुत जोर से धड़ाका हुआ, पर चोट नहीं आई। इस प्रथम वर्ष में ही इन्होंने अपनी पाठ्य-पुस्तक के अतिरिक्त रसायनशास्त्र की जितनी पुस्तकें मिल सकीं, वे सब पढ़ डालीं।

विलायत यात्रा का प्रयत्न—

प्रफुल्ल बाबू के इस विद्या प्रेम का सुपरिणाम थोड़े ही समय में प्रकट हो गया। उनको कॉलेज में पढ़ते हुए तीन वर्ष का समय ही हुआ था कि इन्होंने 'जिलक्राइस्ट' छात्रवृत्ति की प्रतियोगिता में बैठने

का विचार किया। इसमें यह शर्त थी कि परीक्षार्थी लैटिन, ग्रीक, संस्कृत, फ्रेंच या जर्मन भाषाओं में से कोई एक ठीक तरह जानता हो। प्रफुल्ल बाबू लैटिन और फ्रेंच का अभ्यास स्कूल में पढ़ते हुए निजी तौर पर कर चुके थे और संस्कृत में भी अपनी योग्यता काफी बढ़ा ली थी। इसलिए इन्होंने इस प्रतियोगिता का फार्म भर दिया। पर उनको इस अखिल भारतवर्षीय प्रतियोगिता में सफल हो सकने की आशा अधिक न थी, इसलिए अपने भाई के सिवाय और किसी से इसकी चर्चा न की, जिससे बाद में अन्य विद्यार्थियों के मजाक का शिकार न होना पड़े। फिर भी बात किसी तरह प्रकट हो गई और कॉलेज में ऊँचे नंबरों से पास होने वाले एक सहपाठी ने इनको सुनाकर व्यंगपूर्वक कहा—"इन बाबू साहब का नाम तो अब लंदन यूनीवर्सिटी केलेंडर के विशेष संस्करण में छपने वाला है।" इनको पास होने की स्वयं भी बहुत आशा नहीं थी और जब कई महीने तक कुछ खबर नहीं मिली तो उसका ख्याल ही छोड़ दिया। इसी बीच एक दिन कॉलेज में पहुँचने पर किसी ने इनको "स्टेट्समैन" दैनिक पत्र में छपी एक सूचना दिखलाई कि बंबई के बहादुर जी और प्रफुल्ल बाबू दो विद्यार्थी ही उस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए हैं। कॉलेज के प्रिंसीपल ने इनको बुलाकर अभिनंदन किया और फिर 'हिंदू पेट्रियट' नाम के राष्ट्रीय विचारों के पत्र में भी यह समाचार प्रकाशित हुआ कि "श्री प्रफुल्ल चंद्र राय ने मेट्रोपालिटन कॉलेज के मुकुट में एक नवीन यश-कलगी लगाई है।"

"जिलक्राइस्ट" छात्रवृत्ति के प्राप्त हो जाने पर इन्होंने विलायत जाकर शिक्षा प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। पर इनको भय था कि मेरे माता को मेरे इतनी दूर जाने से बहुत दुःख होगा। इसलिए इन्होंने अपने एक चचेरे भाई को, जो गाँव में ही था, पत्र लिखा कि वह माताजी को यह खबर कर दे और उनकी सम्मति भी प्राप्त कर ले। पर इनकी माता भी अपने पति के सुधरे हुए विचारों के प्रभाव से पहले से ही बहुत कुछ प्रगतिशील भावनाओं को अपना चुकी थीं, इसलिए उसने कुछ भी एतराज न किया। पर जब प्रफुल्ल बाबू घर के सब लोगों से विदा लेने स्वयं गाँव को गये तो माता का हृदय भर आया और उसने बड़े करुण भाव से इनको आज्ञा दी। जब प्रफुल्ल

बाबू को माता ने पिता की कठिन आर्थिक स्थिति की बात बताई, तो उन्होंने उसे आश्वासन दिया कि सफलता प्राप्त कर लेने पर मैं उनकी हर तरह से सहायता करूँगा, क्योंकि आप दोनों की सेवा करना मेरा परम कर्तव्य है।

विलायत में रसायन शास्त्र का अध्ययन—

जिस जहाज से प्रफुल्ल बाबू ने विलायत जाने का निश्चय किया, उसमें उनको एक साथी और मिल गये। वे श्री द्वारकाप्रसाद राय थे, जो डॉक्टरी पढ़ने विलायत जा रहे थे। जब बंदरगाह पर सब मित्रों ने विदा दी तब तक तो प्रफुल्ल बाबू बड़े प्रसन्न थे, पर जब जहाज समुद्र में कुछ मील दूर पहुँचा तो उसके हिलने-डुलने से उनकी तबियत खराब हो गई और उल्टियाँ आने लगीं। रास्ते भर यह कष्ट बना रहा, जिससे लंदन पहुँचने पर ही छुटकारा मिला। इस कठिनाई के कारण वे कुछ खा-पी भी न सके, पर जहाज पर भी उन्होंने पढ़ने में कमी नहीं की और पाँच-सात अच्छी पुस्तकें पढ़ डालीं। लंदन पहुँचने पर श्री जगदीशचंद्र बोस और सत्यनारायण बोस ने इनका स्वागत किया। एक सप्ताह तक वहाँ ठहरकर ये एडिनबर्ग के लिए रवाना हो गए। एडिनबर्ग में लंदन की अपेक्षा ठंड ज्यादा पड़ती है, इसलिए अनुभवी मित्रों ने वहाँ के लिए लंदन में ही गर्म कपड़ों की व्यवस्था करा दी। उस समय एडिनबर्ग में इनको ६ रु० प्रति सप्ताह के किराये पर एक कमरा मिल गया, जिसमें मेज कुर्सी भी थी और जलाने का कोयला भी मिल जाता था। एक आने में जौ और दूध से बनी लपसी खाने के लिए काफी मिल जाती थी। इस प्रकार इनका विलायत का रहन-सहन सस्ता और सादा ही था।

कॉलेज में पहुँचने पर इनको अनुभव हुआ कि पहले इंग्लैंड की बी० एस-सी० परीक्षा पास कर लेना ठीक रहेगा। इनको रसायन-विज्ञान का शौक तो कलकत्ता से ही लग गया था। अब विलायत में कुछ दिन रहने के पश्चात् इनको प्रतीत होने लगा कि अपना वास्तविक विषय तो यही है।

रसायन-विज्ञान के प्रोफेसर का नाम क्रुमब्राउन था। इनकी आयु लगभग ४० वर्ष की होगी और इनकी कक्षा में ४००-५०० विद्यार्थी होंगे, जो प्रायः सभी डॉक्टर होने वाले थे। वे नवयुवक

विद्यार्थी अभी घरों से नये-नये ही आये थे, इसलिए कॉलेज में भी बड़े जोश-खरोश के साथ रहते थे। जैसे ही प्रोफेसर कमरे में घुसते, ये सब 'शुभागमन' की धूम मचाते और फिर स्वागत गान गाने लगते। प्रो० क्रुमाब्राउन बहुत सरल स्वभाव के थे, इसलिए वे इस हलचल के कारण कुछ संकुचित हो जाते। यह देखकर लड़के और भी जोश में आकर अधिक गड़बड़ करने लगते। पर जब नाराज होकर प्रोफेसर कहते—"सज्जनों, अगर तुम इस तरह गड़बड़ी करोगे तो मैं अपना भाषण बंद कर दूँगा।" तब सब चुप हो जाते और काम ठीक से चलने लगता। प्रफुल्ल बाबू ने अपने आत्म चरित्र में लिखा है कि ये प्रोफेसर बड़े सज्जन और ऊँचे दर्जे के विद्वान् थे। रसायन-विज्ञान के अलावा वे भाषा-शास्त्री भी थे और उनको चीनी भाषा का भी कुछ ज्ञान था। वे गणित के गूढ़ प्रश्नों को हल कर सकते थे और शारीरिक चिकित्सा में काम आने वाली औषधियों के प्रभाव को जानने में एक 'विशेषज्ञ' थे।

पर प्रोफेसर साहब का शरीर अब अधिक स्थूल होने लग गया था, इसलिए वे स्वयं 'प्रयोग' करके नहीं दिखलाते थे, वरन् 'प्रयोग-दर्शकों' (डिमोन्स्ट्रेटर) और सहायकों से काम लेकर शिक्षा-कार्य करते थे। प्रफुल्ल बाबू ने इन प्रयोग-दर्शकों के साथ भी अच्छी तरह जान-पहिचान कर ली थी और बड़े उत्साह तथा लगन के साथ रसायनशास्त्र का अध्ययन करते थे। उस समय जो अंग्रेज लड़के उनके साथ पढ़ते थे, उनमें से कितने ही आगे चलकर नामी वैज्ञानिक और प्रोफेसर हुये। इस प्रकार की मंडली में रहकर ये भी विज्ञान की इस शाखा में निष्णात हो गये।

भारतीय गदर संबंधी निबंध—

इसी समय एडिनबरा यूनीवर्सिटी के प्रधान लार्ड ओडस्लेध ने एक निबंध लिखने के लिए पुरस्कार की घोषणा की, जिसका विषय था "गदर के पूर्व और पश्चात् का भारत"। प्रफुल्ल बाबू ने भी इस विषय पर निबंध लिखने का निश्चय किया और इस संबंध में सैकड़ों अलभ्य ऐतिहासिक ग्रंथों और कागज-पत्रों का अध्ययन किया। यह निबंध परीक्षकों के दृष्टि में बहुत ऊँचे दर्जे का प्रशंसनीय सिद्ध हुआ, पर चूँकि यह भारतीय राष्ट्रीय भावना को लेकर लिखा गया था

और इसमें अंग्रेज सरकार पर कुछ कठोर आक्षेप किये गये थे, इसलिए इसे पुरस्कार योग्य स्वीकार नहीं किया गया। पर इससे हतोत्साह न होकर इन्होंने इसको इंग्लैंड में ही पुस्तकाकार प्रकाशित करा दिया और अनेक विद्वानों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की। वहाँ के "स्काट्समैन" नामक प्रसिद्ध समाचार पत्र ने लिखा—"यह एक बड़ी आकर्षक छोटी-सी पुस्तक है। इसमें भारत के संबंध में ऐसी जानकारी समाविष्ट की गई है, जो कहीं अन्यत्र नहीं मिल सकती। इस पर अधिक से अधिक ध्यान देना आवश्यकीय है।"

ऐसी ही एक घटना की याद हमको प्रसिद्ध देशभक्त श्री महादेव गोविंद रानाडे के संबंध में आती है। जिन दिनों वे बंबई के 'एलफिन्सटन कॉलेज' में पढ़ते थे, वहाँ के प्रिंसीपल श्री ग्रांट ने "अंग्रेजी और मराठा शासन की तुलना" पर एक निबंध लिखने को कहा। अन्य सब लोगों ने तो उस समय की हवा के अनुसार अंग्रेजी राज्य की अच्छाइयों का गुणगान ही किया, पर रानाडे उस श्रेणी से बहुत ऊपर थे। उन्होंने अनेक प्रमाण देकर यह प्रमाणित किया कि मराठों का शासन अधिक प्रशंसनीय था। इस पर ग्रांट साहब बहुत नाराज हुए और रानाडे को बुलाकर कहा "ऐ नवयुवक ! तुम्हें इस सरकार की निंदा नहीं करनी चाहिए, जो तुम्हें शिक्षित कर रही है और तुम्हारी जाति के साथ इतना उपकार कर रही है।" ग्रांट साहब की चर्चा करते हुए स्वयं रानाडे ने उनको बहुत सज्जन और विद्वान् लिखा है, पर इस घटना से वे इतने नाराज हुये कि उन्होंने छह महीने के लिए रानाडे की छात्रवृत्ति बंद कर दी। रानाडे ने भी इस हानि को सहन करना स्वीकार कर लिया, पर अपने विचारों को बदलने के लिए वे तैयार न हुए। हानि होने पर भी अपने सिद्धांत पर दृढ़ रहना महापुरुषों का एक लक्षण है। प्रफुल्ल बाबू ने भी अंग्रेजों के घर में रहकर इसका परिचय दिया कि कम महत्त्व की बात नहीं है।

रसायन-विज्ञान के आचार्य—

इस घटना के पश्चात् प्रफुल्ल बाबू ने अपना ध्यान रसायन-शास्त्र की पढ़ाई में लगा दिया और सम्मान के साथ बी० एस-सी० परीक्षा पास कर ली तथा 'डॉक्टरेट' के लिए अध्ययन करने लगे। इसके लिए इनको रसायन-विज्ञान के किसी विषय पर मौलिक निबंध

लिखकर देना था। इसलिए वे अपना ज्यादा समय प्रयोगशाला में तरह-तरह के वैज्ञानिक प्रयोगों में लगाने लगे और उसी विषय की अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन भाषाओं की ढेरों पुस्तकों को स्वतंत्र रूप से पढ़ने लगे।

पढ़ाई में इतना परिश्रम करने पर इनके पास विलायत की सैर करने या वहाँ के समाज में मिल-जुल कर मनोरंजन का बहुत कम समय रहता था, तो भी अपनी जानकारी बढ़ाने के लिए वे कभी-कभी अंग्रेजों के समारोहों में सम्मिलित हुआ करते थे। यद्यपि अपने विद्या व्यसन के प्रभाव से उनकी जान-पहिचान कितने ही उच्च परिवारों में हो गई थी, पर संकोची और शर्मीले स्वभाव के कारण वे उनकी स्त्रियों और युवतियों से अच्छी तरह बात नहीं कर सकते थे, वरन् बड़ी आयु के व्यक्तियों से बातचीत करना ही उनको पसंद आता था।

पर इस प्रकार के स्वभाव का एक लाभ यह हुआ कि इनका समय फालतू बातों में कम जाता था और वैज्ञानिक अध्ययन में काफी परिश्रम कर लेते थे। इसलिए परीक्षा में इन्होंने अच्छी योग्यता दिखाई और इनके उत्तरों से परीक्षक पूर्णतः संतुष्ट हुए। डी० एस-सी० की परीक्षा देने वाले उस वर्ष ये अकेले ही विद्यार्थी थे। परीक्षोत्तीर्ण हो जाने पर इनको दो छात्रवृत्तियाँ मिलीं, जिनके सहारे से इंग्लैंड में रहकर विशेष अध्ययन कर सके। उस समय डी० एस-सी० की पदवी प्राप्त करने वाले इने-गिने ही थे, इसलिए प्रफुल्ल बाबू का सम्मान शिक्षित वर्ग में काफी बढ़ गया। इनके प्रोफेसर क्रुमब्राउन ने इनको बहुत अच्छा प्रशंसा पत्र दिया और अपने परिचित अनेक उच्च पदाधिकारियों के नाम परिचय-पत्र लिख दिए, जिससे इनको ऊँची सरकारी नौकरी पा सकने में सहायता मिले। इनके द्वारा इंग्लैंड के अनेक गणमान्य व्यक्तियों से इनकी जान-पहिचान हो गई, जिन्होंने इनको भारत मंत्री के पास तक पहुँचाया, पर उस समय सरकारी नीति ही निश्चित की गई थी कि भारतीय शिक्षा-विभाग के उच्च पदों पर गोरे लोगों के सिवाय अन्य किसी को नियुक्त न किया जाए। इसलिए तरह-तरह से परिश्रम करने और इसी उद्देश्य से दो महीना तक लंदन में टिके रहने पर

भी जब सफलता की कोई आशा न जान पड़ी तो वे लाचार होकर भारत को रवाना हो गये। इसका एक कारण यह भी था कि अब इनके पास रूपया कम होता जाता था और भय था कि वहाँ ज्यादा समय रुका जायेगा तो जहाज के किराये के लिए भी कमी पड़ जायेगी।

फिर भी इनके मन में योरोप की स्थिति देखने की अभिलाषा थी, इसलिए इन्होंने धीमी चलने वाली गाड़ी से यात्रा की और फ्रांस तथा इटली के बहुसंख्यक स्थानों की सैर करते हुए ब्रिंडसी पहुँचे, जहाँ इनको जहाज में बैठना था। पर ऐसा करने से इनके पास का शेष रुपया भी समाप्त हो गया और जब जहाज में सवार हुए तो जेब में केवल दस-बीस रुपया ही बचे थे। जिस समय जहाज कलकत्ते के बंदरगाह पर पहुँचा तो इनके पास सामान उतारकर शहर में ले जाने के लायक पैसा भी न था। अतः जहाज के खजांची से आठ रु० उधार लेकर एक मित्र के घर पहुँचे। उससे कुछ रुपया लेकर बाजार जाकर एक धोती और चादर खरीदी और विदेशी पोशाक उतारकर स्वदेशी वेष भूषा धारण कर ली। इसके पश्चात् यद्यपि इन्होंने बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ कीं, पर यथासंभव सदा स्वदेशी पोशाक ही व्यवहार में लाते रहे।

दो-चार दिन बाद जब बड़े भाई से भेंट हुई तो मालूम हुआ कि घर की आर्थिक कठिनाइयाँ बराबर बढ़ती जाती हैं। इसी विचार से विलायत में इन्होंने अपना खर्च बहुत नियमित रखा था और कभी पिता को रुपया भेजने के लिए नहीं लिखा। वैसे इनके पिता के पास अब भी कुछ जायदाद और जमींदारी थी, पर अधिक खर्च और कुछ अन्य परिस्थितियों के कारण उनका निर्वाह कठिनाई से होता था, तो भी अगर प्रफुल्ल बाबू लिखते तो वे उधार लेकर भी उनकी आवश्यकता की पूर्ति अवश्य करते। आजकल के जो विद्यार्थी गरीब माता-पिता के कष्टों की परवाह न करके उनसे रुपया माँगते रहते हैं और फिर उसे फैशन तथा सैर-तमाशे में उड़ाते हैं, वे प्रफुल्ल बाबू की इस बात से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। उन्होंने विदेश में रहकर भी पिता से कम से कम सहायता ली और अपना खर्च जहाँ तक बना छोटी-मोटी छात्रवृत्तियों से ही चलाया।

गोरे और कालों में भेद-भाव नीति—

जैसा आरंभ में लिखा जा चुका है, विलायत की डी० एस-सी० की पदवी प्राप्त करके पहले तो प्रफुल्ल बाबू ने अपनी योग्यता के अनुकूल उच्च पद पाने की पूरी कोशिश की। उनका उद्देश्य केवल अधिक वेतन प्राप्त कर लेना ही नहीं था, वरन् मुख्य लक्ष्य यह था कि योग्य होने पर भारतवासियों को अंग्रेजों के समान ही सुविधाएँ मिलने के अधिकार को स्थापित किया जाए। यद्यपि उस समय महारानी विक्टोरिया की घोषणा में भारतवासियों को यह वचन दिया गया था कि उनके साथ सरकारी कार्यों में समानता का निष्पक्ष बर्ताव किया जायेगा। पर जब व्यवहार में उसे चरितार्थ करने का अवसर आया तो अंग्रेजी शासन के मुख्य संचालकों ने तरह-तरह की चालों से उस भावना के विरुद्ध ही कार्य किया। यदि कभी कोई बहुत बड़ा दबाव आ पड़ा या किसी के द्वारा विशेष स्वार्थ सिद्धि की आशा जान पड़ी, तो दूसरी बात, अन्यथा उन्होंने बहुत दिनों तक भारतवासियों को हर तरह से योग्य होने पर भी आगे बढ़ने से रोका।

इस तथ्य को समझकर और अपने घर की आर्थिक परिस्थितियों को देखकर प्रफुल्ल बाबू ने सामान्य पद ही स्वीकार कर लिया, पर उनके मन में यह बात जम गई कि हमारा उद्धार अपने पुरुषार्थ से ही होगा। यद्यपि वे, स्वभाव से ही त्यागी और स्वयं कष्ट सहन करके परोपकार करने वाले थे, इसलिए उनको स्वयं अपने लिए अधिक धन की आवश्यकता नहीं थी। पर एक तो वे भारतवासियों की गरीबी से खूब परिचित थे और विलायत वालों की संपन्नता भी देख आये थे। इसलिए वे नहीं चाहते थे कि भारतवासी अकर्मण्य और भाग्यवादी बने रहकर जो कुछ थोड़ा बहुत मिल जाए उसी पर संतोष करके बैठे रहें। यहाँ भी सब लोगों को अधिकाधिक उद्योग और पुरुषार्थ करके अपनी और देश की आर्थिक अवस्था का सुधार करना चाहिये, जिससे जन-साधारण के रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो सके। दूसरी बात यह थी कि वे कुछ अधिक आमदनी करके उन लोगों की सहायता भी करना चाहते थे, जो योग्य होने पर भी अर्थाभाव के कारण जहाँ के तहाँ पड़े रह जाते हैं और इस प्रकार जिनकी योग्यता से देश को वंचित रहना पड़ता है।

सरकारी अधिकारी भी प्रफुल्ल बाबू की योग्यता को समझते थे और यह भी विश्वास करते थे कि उनको जहाँ कहीं रखा जायेगा, वहाँ वे पूरी ईमानदारी और परिश्रम से कार्य करके उसकी अधिकाधिक प्रगति करके दिखाएँगे। पर वह जमाना ही ऐसा था जबकि भारतीय शासन के प्रमुख संचालक इस देशवासियों पर हर तरह से गोरों की श्रेष्ठता का प्रभाव डालना चाहते थे। जिस शिक्षा अधिकारी ने प्रथम बार प्रफुल्ल बाबू को केंद्रीय-विभाग में लेने से इनकार किया था और उत्तर में कहा था कि—"आप में इतनी अधिक योग्यता है तो और किसी कार्य में उपयोग करके प्रगति कर सकते हो।" उसी मि० क्राफ्ट ने बाद में इनके कार्य को देखकर इनको केंद्रीय विभाग में लेने की बड़ी कोशिश की थी। पर बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर ने यही उत्तर दिया कि यदि इनको केंद्रीय विभाग में ले लिया जायेगा तो एक हानिकारक उदाहरण कायम हो जायेगा और दूसरे योग्य बंगालियों को, जो कैंब्रिज, ऑक्सफोर्ड, लंदन जाकर ऊँची डिग्रियाँ ले आये हैं, किस तरह उसमें सम्मिलित करने से इनकार किया जाएगा ? इस प्रकार जातीय पक्षपात के कारण—गोरे-काले के भेदभाव के आधार पर प्रफुल्ल बाबू को ऊँची से ऊँची योग्यता के होते हुए भी कम वेतन की नौकरी ही स्वीकार करनी पड़ी।

यह गोरे-काले का भेदभाव अंग्रेजों के दिमाग में कहाँ तक जोर पकड़ चुका था, इसका स्पष्ट परिचय भारतभक्त श्री एंडरूज के संस्मरणों से भी मिलता है। उनकी मातृभूमि यद्यपि इंग्लैंड थी, पर किसी प्रेरणावश वे भारत चले आये और दिल्ली के 'सेंट स्टीफेन्स कॉलेज' में अध्यापक का कार्य करने लगे। वे महापुरुष ईसा की शिक्षा के अनुसार मानव मात्र को अपना भाई मानते थे और इसलिए भारतवासियों के साथ बड़े प्रेम और सद्भाव का व्यवहार करते थे। इस पर यहाँ के ऐंग्लो इंडियन उनको बार-बार टोकते और सावधान करते थे कि यह ढंग गलत है। उनकी बातचीत का सारांश इस प्रकार होता था—

"कभी किसी हालत में किसी 'नेटिव' (भारतीय) से मत दबना, न कभी किसी नेटिव के दिल में यह ख्याल न आने देना कि वह

तुमसे ऊँचा है। हम भारतवर्ष पर एक ही तरीके से राज्य कर सकते हैं और वह यही है कि हम अपनी 'पोजीशन' (पद) को ऊँचा बनाए रखें। यद्यपि आप 'मिशनरी' (पादरी) हैं, तथापि पहले अपने आपको 'अंग्रेज' समझना होगा। आप इस संबंध में सदा सावधान रहें और अंग्रेज होने की 'प्रेस्टीज' (धाक) को कदापि न त्यागें।"

ऐसी थी भारत में आने वाले और इस पर शासन करने वाले छोटे-बड़े सब अंग्रेजों की मनोभूमि। उनमें से अधिकांश तो भारतवासियों को एक 'नीची जाति' का व्यक्ति ही मानते थे और कहते थे कि हम इनको सभ्य बनाने आये हैं। ऐसी दशा में अगर प्रफुल्ल बाबू को अंग्रेजों की बराबरी का दावा करने पर एकाध कड़वी बात सुनने को मिली, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। स्वाधीन और पराधीन जाति में इतना अंतर तो रहेगा ही और वास्तव में बिना दूषित आचरण के किसी को पराधीन होना भी नहीं पड़ता। इसलिए प्रफुल्ल बाबू के उदाहरण से हमको यही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि यदि हमें कोई 'छोटा' समझता है तो हम अपने आचरण, व्यवहार और सफलता के द्वारा अपने को श्रेष्ठ करके दिखला दें। इस प्रकार के आक्षेप का यही उचित उत्तर है।

विज्ञान का समाज सेवा के लिए उपयोग—

यद्यपि विज्ञान एक ऐसा विषय है कि जो अधिकांश में सर्व साधारण की पहुँच से बाहर माना जाता है, फिर भारतवर्ष की जनता जिसे सत्तर वर्ष पूर्व अक्षर ज्ञान प्राप्त करने का सुयोग भी बहुत कम था, विज्ञान के महत्त्व को क्या समझ सकती थी ? पर प्रफुल्ल बाबू ने अपना शिक्षण-संबंधी काम ठीक तरह जम जाने के थोड़े समय बाद ही अपने बचे हुए समय में सार्वजनिक जीवन में संबंध रखने वाले विषयों की जाँच-पड़ताल आरंभ की। सबसे पहले इनका ध्यान खाद्य-पदार्थों की शुद्धता की तरफ गया। इस संबंध में उन्होंने लिखा—"हमारे देश के लोगों को चिकनाई (फैट) प्राप्त कर सकने के दो ही पदार्थ मिलते हैं। एक घी दूसरा सरसों का तेल। ये दोनों पदार्थ बाजार में मिलावट करके बेचे जाते हैं, जिससे सर्वसाधारण के स्वास्थ्य की हानि होती है। इस मिलावट को पकड़ सकना भी सहज नहीं है। विलायत की गायों के मक्खन की अपेक्षा भारतीय गायों के

मक्खन की बनावट तथा तत्त्वों में कुछ अंतर होता है। इसलिए अंग्रेजी ग्रंथों में मक्खन के पृथक्करण का जो नक्शा दिया गया है, वह भारतवर्ष में काम नहीं दे सकता। यह सोचकर मैंने भारतीय घी-तेल के तत्त्वों की जाँच का कार्य आरंभ किया। इसी प्रकार तेल के कितने ही नमूनों की भी बारीकी से जाँच की गई। इस कार्य में मुझे तीन बरस का समय खर्च करना पड़ा, तब कुछ सफलता प्राप्त हो सकी।"

अपना खोज-कार्य करते हुए इनको विदित हुआ कि, यद्यपि वर्तमान समय में एक हजार वर्ष से अधिक की सामाजिक अव्यवस्था और पराधीनता के कारण भारतवासी विज्ञान के क्षेत्र में सर्वथा पिछड़ गये हैं, पर प्राचीन समय में ऐसी बात न थी। बौद्ध काल में और उसके पश्चात् भी कई सौ वर्ष तक कितने ही वैज्ञानिक क्षेत्रों में उन्होंने बहुत अधिक प्रगति की थी और उस समय वे संसार में अग्रगण्य माने जाते थे। इसलिए जब प्रफुल्ल बाबू ने योरोप के प्रसिद्ध वैज्ञानिक बर्थेलेट लिखित 'यूनान के कीमियागर' नामक ग्रंथ पढ़ा, जो वास्तव में उसी समय की वैज्ञानिक खोजों का इतिहास था, तो इन्होंने बर्थेलेट को पत्र लिखा कि प्राचीन भारतवर्ष में भी "कीमियागरों" (रसायन की विधि द्वारा स्वर्ण बनाने का प्रयत्न करने वाले) की कमी नहीं थी और इस विषय पर संस्कृत में कई ग्रंथ मिलते हैं। फिर उन्होंने 'रसेंद्र-सार संग्रह' ग्रंथ से कुछ अवतरण एकत्रित करके भेजे, जिन्हें पढ़कर बर्थेलेट बहुत खुश हुआ और इस विषय पर एक बढ़िया लेख तैयार करके एक मासिक पत्र में छपाया, जिसमें यह भी कहा गया था कि प्रफुल्ल बाबू रसायनशास्त्र के प्रसिद्ध विज्ञान हैं।

बर्थेलेट ने अपने एक बहुत माननीय ग्रंथ 'मध्ययुगीन रसायन शास्त्र का इतिहास' के तीन खंड इनको भेंट स्वरूप भेजे। उनको पढ़कर प्रफुल्ल बाबू को विदित हुआ कि प्राचीन रसायनशास्त्र के संबंध में भी विदेशी विद्वान् कितनी गहरी खोज करते हैं। उस ग्रंथ का अवलोकन करने के पश्चात् उन्होंने लगातार कई वर्ष तक परिश्रम करके 'हिंदू रसायनशास्त्र का इतिहास' नामक ग्रंथ लिखा, जिससे प्राचीन भारतीय वैज्ञानिकों की कीर्ति देश-विदेशों में फैल गई।

यह ग्रंथ इतना प्रमाणिक माना जाता है कि योरोप के कई विश्वविद्यालयों में भी इसको पढ़ाया जाता है। इसका दूसरा उद्देश्य यह भी था कि अपने पूर्वजों की वैज्ञानिक उन्नति का वर्णन पढ़कर वर्तमान समय के व्यक्ति प्रेरणा प्राप्त करें और पुनः इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में कुछ उल्लेखनीय कार्य करके दिखायें। इस ग्रंथ का दूसरा भाग सन् १९०६ में प्रकाशित हुआ। उसकी भूमिका में इस कार्य के महत्त्व पर कुछ प्रकाश डालते हुए प्रफुल्ल बाबू ने लिखा था—

"इस ग्रंथ के लिए पिछले पंद्रह या इससे भी अधिक वर्षों तक मैंने अपने शेष समय का एक-एक क्षण खर्च किया है। इसलिए इस स्वेच्छा से स्वीकार किये कार्य की पूर्णाहुति करते समय मेरे मन में वैसी ही भावना उत्पन्न हो रही है, जैसी कि रोमन-साम्राज्य के इतिहास लेखक एडमंड गिबन ने अपने ग्रंथ को समाप्त करते हुए प्रकट की थी। एक बहुत बड़ा कार्य पूरा होकर मुझे उससे छुटकारा मिल गया, इससे आरंभ में एक आनंद की लहर आई। पर दूसरे ही क्षण मुझे यह जान पड़ा कि एक पुराने प्रिय साथी (अर्थात् ग्रंथ-लेखन कार्य) से मेरा सदा के लिए बिछोह हो गया तो शोक भी कम नहीं हुआ।"

"भारतीय जनता अपने यशस्वी भूतकाल और सोई हुई विशाल शक्तियों को जान ले, तो आगे चलकर और भी अधिक गौरवपूर्ण भविष्य की आशा रख सकती है। अगर यह ग्रंथ मेरे देशवासियों को संसार के बौद्धिक क्षेत्र में आगे बढ़ने और अपना सम्माननीय स्थान प्राप्त करने की उत्तेजना देने वाला सिद्ध होगा, तो मैं अपने इस परिश्रम को व्यर्थ नहीं समझूँगा।"

"जैसा हम देख रहे हैं, वर्तमान युग विज्ञान-प्रधान है और आजकल वही देश प्रगतिशील और शक्तिशाली माने जाते हैं; जो विज्ञान की दृष्टि से अग्रगण्य हैं। अमेरिका इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। उसने वैज्ञानिक खोजों और अन्वेषणों में अपनी पूरी शक्ति और आर्थिक साधन लगा दिये हैं, तो इसका परिणाम यह हुआ है कि इस समय वह संसार में सर्वोच्च राष्ट्र माना जाता है। प्रफुल्ल बाबू इस तथ्य को आरंभ से ही जानते थे। इसलिए जैसे ही उनको कुछ साधन प्राप्त हुए, उन्होंने अनेक होनहार विद्यार्थियों को अपने पास

रखकर और उनका खर्च देकर ऐसी सुविधाएँ प्रदान कीं, जिससे वे इस क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त करके दिखा सके। कहना न होगा कि प्रफुल्ल बाबू के प्रयत्नों से पचासों नये वैज्ञानिक तैयार हुए, जिन्होंने न केवल देश के बड़े-बड़े विद्यालयों में पहुँचकर विज्ञान की शिक्षा का प्रसार किया, वरन् उनमें से कितने ही ने ऐसी वैज्ञानिक खोजें भी कीं, जिनके कारण उनका नाम दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गया है।

अन्य क्षेत्रों में समाज सेवा—

अब से चालीस-पचास वर्ष पूर्व भारत जैसे पराधीन देश में किसी स्वदेश प्रेमी सज्जन का विद्या या कला संबंधी किसी एक विषय को लेकर उसी में निमग्न हो जाना संभव न था। जैसा किसी बड़े नीतिकार ने कहा है, गुलामी या दासता की दशा में कितने भी बड़े गुण या योग्यता का कोई मूल्य नहीं समझा जा सकता, क्योंकि आपको सदा अपने स्वामी के सामने दबकर रहना पड़ेगा या उसके द्वारा अपमान सहना पड़ेगा। यही कारण है कि हमारे देश में लो० तिलक, गोखले, अरविंद, देशबंधुदास आदि महान् विद्वानों और अपने देश में चमत्कारी सफलता प्राप्त कर सकने वालों ने अपना सम्मानयुक्त काम छोड़कर राजनीति के हलचल पूर्ण क्षेत्र में प्रवेश किया। प्रफुल्ल बाबू यद्यपि ऊँचे शिक्षक पद पर कार्य कर रहे थे, जिसमें जीवन को बहुत शांति और आनंद से व्यतीत किया जा सकता है, पर देश प्रेम की भावना के कारण वे वैसा नहीं कर सके। जैसा हम पीछे बतला चुके हैं, उनका आरंभ से ही स्वदेशी उद्योग-धंधों की वृद्धि और उसके द्वारा भारतवासियों की आर्थिक दशा के सुधार की लगन थी, इसलिए सदैव किसी राजनैतिक आंदोलन और नेताओं से संबंध बनाये रहते थे और अपनी परिस्थिति के अनुकूल कोई न कोई समाजसेवा का कार्य करते ही रहते थे।

अपने आरंभिक जीवन में वे श्री आनंदमोहन बोस और श्री सुरेंद्रनाथ बनर्जी को अपने राजनीतिक गुरू की तरह मानते थे। फिर जब सन् १६०१ में श्री गोपालकृष्ण गोखले वाइसराय की कौंसिल में सदस्य के तरीके सम्मिलित होने को कलकत्ता आए, तो

डॉ० नीलरतन सरकार उनका स्वागत करने के लिए प्रफुल्ल बाबू को भी हावड़ा के स्टेशन पर ले गये थे। इसके कुछ समय पश्चात् श्री गोखले के साथ इनका संबंध घनिष्ठ मित्रता के रूप में बदल गया। फिर जब सन् १६०१ के अंतिम भाग में गाँधी जी कलकत्ता आकर श्री गोखले के यहाँ ठहरे तो उन्होंने प्रफुल्ल बाबू के साथ उनका परिचय कराते हुए कहा—"ये डॉ० प्रफुल्लचंद्र राय हैं, जो एडिनबरा यूनीवर्सिटी के डी० एस-सी० हैं। प्रेसीडेंसी कॉलेज में इनको ८०० रु० वेतन मिलता है। यह ब्रह्मचारी हैं और हमेशा इसी प्रकार ब्रह्मचारी रहना चाहते हैं।" उस समय गाँधी जी केवल मि० मोहनदास कर्मचंद गाँधी के रूप में ही प्रसिद्ध थे। जब उन्होंने प्रफुल्ल बाबू को अफ्रीका प्रवासी भारतवासियों की दुर्दशा के संबंध में तमाम बातें सुनाईं, तो इसके लिए कलकत्ता में एक सार्वजनिक सभा करने का विचार किया गया। गोखले जी ने भी अपनी सम्मति दे दी और तब अलबर्ट हाल में, प्रफुल्ल बाबू के नेतृत्व में ही सभा का आयोजन किया गया। उसमें गाँधी जी ने अफ्रीका प्रवासी भारतवासियों की दुर्दशा का हाल जनता को सुनाया और साथ ही उसके प्रतिकारार्थ अपनी योजना भी प्रकट की। उसका आशय यही था कि सब प्रकार के कष्टों को सहन करके सत्य की रक्षा करना और द्वेष को प्रेम से जीत लेना।

इसके पश्चात् गाँधी जी और प्रफुल्ल बाबू का संबंध दिन पर दिन प्रगाढ़ होता गया और जब गाँधी जी ने सन् १६२१ में खादी आंदोलन आरंभ किया तो प्रफुल्ल बाबू ही सबसे पहले वैज्ञानिक थे, जिन्होंने खादी की उपयोगिता प्रमाणों द्वारा सिद्ध की। जब बंगाल में दीर्घकालव्यापी बाढ़ का संकट आया और प्रफुल्ल बाबू तन-मन-धन से उसके निवारण करने में जुटे, तो उन्होंने पीड़ितों की सहायता का मुख्य आधार खादी को ही बनाया और उसे सफल बनाकर दिखा दिया।

जिस समय प्रफुल्ल बाबू योरोप की दूसरी यात्रा से वापस लौटकर आये, उसके कुछ ही समय पश्चात भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड कर्जन ने बंगाल को दो भागों—पूर्वी और पश्चिमी बंगाल में बाँट दिया। इसमें उनका मुख्य उद्देश्य बंगालियों की

एकता और बढ़ती हुई शक्ति को तोड़ना था। दूसरा गुप्त उद्देश्य यह भी था कि पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की संख्या बहुत अधिक होने से वहाँ के शासन में उनकी प्रधानता हो जायेगी और बंगाल में हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य उत्पन्न होकर राष्ट्रीय भावना को चौपट कर देगा। इस प्रकार कर्जन अब से १०५ वर्ष पहले वह चाल चली थी, जो अंत में सन् १९४७ में पाकिस्तान के रूप में हमारे सामने चरितार्थ हुई।

पर उस समय सभी प्रबुद्ध बंगालियों और उनके साथ अन्य प्रांत वालों ने भी इस विभाजन का जी-जान से विरोध किया और उसके प्रतिकार के लिए एक विराट् 'स्वदेशी-आंदोलन' छिड़ गया। जिस कार्य को अंग्रेजों ने बंगाल की एकता और राष्ट्रीय भावना को कुचलने के लिए किया था, उसका परिणाम यह हुआ कि संपूर्ण भारतवर्ष में एक अभूतपूर्व राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न हो गई और 'स्वदेशी' की ऐसी लहर आई कि जिसने अंत में इस देश में से अंग्रेजों के पैर उखाड़ ही दिये।

भारतीय उद्योग-धंधों में सहयोग—

इस समय सरकारी नौकरी में होने से यद्यपि प्रफुल्ल बाबू सरकार विरोधी उग्र आंदोलन में खुलकर भाग तो नहीं ले सकते थे, पर उनकी हार्दिक सहानुभूति देशोद्धार के प्रत्येक कार्य से थी। स्वदेशी आंदोलन के फलस्वरूप लोगों का ध्यान भारतीय उद्योग-धंधों की उन्नति की तरफ भी गया और इसके लिए वैज्ञानिकों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। प्रफुल्ल बाबू का ध्यान देशी उद्योग-धंधों की तरफ आरंभ से ही था और इसी उद्देश्य से उन्होंने 'बंगाल कैमिकल एंड फार्मास्यूटिकल वर्क्स" की स्थापना की थी। इस अवसर पर उन्होंने ऐसे युवकों को विशेष रूप से शिक्षित करना आरंभ किया, जो विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में उपयोगी सिद्ध हो सकें। उन्होंने स्वयं कई बड़े-बड़े व्यवसायों में स्वयं भाग लेकर देश को स्वावलंबी बनने का मार्ग दिखलाया था। इस प्रकार के उद्योग-धंधों में 'दी सोडपुर सल्फ्यूरिक वर्क्स' (गंधक के तेजाब का कारखाना), 'दी कलकत्ता पौटरी वर्क्स', 'दी बेंगाल एनामेल वर्क्स' 'दी बंगीय स्टीम नेवीगेशन कंपनी', 'दी बंगलक्ष्मी मिल्स' आदि का

नाम लिया जा सकता है। वे इन सबके 'डाइरेक्टर बोर्ड' में सम्मिलित थे और उत्साहपूर्वक इनकी वृद्धि के लिए उद्योग करते थे।

'कलकत्ता पौटरी वर्क्स' की स्थापना किसी उद्योगशील सज्जन ने सन् १६०१ में की थी, जब उनको संथाल परगना में खोज करते हुए एक स्थान पर चीनी मिट्टी मिल गई थी। वर्षों तक यह कार्य एक छोटे प्राइवेट कारखाने के रूप में चलाया जाता रहा, पर सिवाय थोड़े-बहुत घाटे के लाभ का कोई लक्षण दिखाई न दिया। सन् १६१६ में इसे दस लाख मूलधन की लिमिटेड कंपनी के रूप में संगठित किया गया। प्रफुल्ल बाबू ने इसकी प्रगति के लिए काफी परिश्रम किया, पर विदेशी कंपनियों की प्रतियोगिता में यह नाम मात्र का ही लाभ कमा सकी। वे अच्छी तरह जानते थे कि इस प्रकार के उद्योग बिना सरकारी संरक्षण के अग्रसर नहीं हो सकते, पर उस विदेशी सरकार से ऐसी आशा करना कठिन ही था।

"बंगाल एनामेल वर्क्स" की भी ऐसी ही कथा है। प्रफुल्ल बाबू का एक शिष्य श्री देवेंद्रनाथ भट्टाचार्य जापान से इस कार्य के लिए आवश्यक साँचे और अन्य सामग्री ले आया। उसने कलकत्ता से १५ मील की दूरी पर इसके लिए एक बड़ी जमीन लेकर कारखाना बनाया। एनामेल के बर्तनों के बनाने की कला कुछ कठिन है और विदेशी कारखाने वाले उसे किसी को ठीक तरह सिखलाते भी नहीं।

इसलिए इन लोगों ने इंग्लैंड, जर्मनी, अमेरिका से मँगाये हुए ग्रंथों की सहायता से और अपनी सूझ-बूझ के जोर से इस धंधे को आगे बढ़ाया और सन् १६२७ में ऐसा माल बनाकर तैयार कर दिया, जो इंग्लैंड के बने माल के मुकाबले में टिक सकता था। इस संबंध में कंपनी की स्थिति पर विचार करते हुए प्रफुल्ल बाबू ने लिखा था कि—"इंग्लैंड जैसे उद्योग प्रधान देश में भी सरकार ने एनामेल के कारखानों की सहायता के लिए विदेशी एनामेल के माल पर २५ प्रति सैकड़ा रक्षणात्मक कर लगा रखा है, पर भारत में सर्वथा नये उद्योगों को जापान और जर्मनी जैसे जबर्दस्त प्रतियोगियों का मुकाबला अपने साधनों से ही करना पड़ता है। उनकी सरकार अथवा बैंकों की तरफ से कोई विशेष सहायता नहीं दी जाती।"

'बंगीय स्टीम नेविगेशन कंपनी' का उदाहरण और अधिक आँखें खोलने वाला है। उस समय तक यह कार्य मुख्यतः अंग्रेज कंपनियों द्वारा ही किया जाता था। जब प्रफुल्ल बाबू और उनके साथियों ने एक भारतीय जहाजी कंपनी स्थापित की तो अंग्रेजी कंपनी वालों के पेट में चूहे कूदने लगे और उन्होंने यह चेष्टा की कि किसी प्रकार उसे इतनी हानि पहुँचाई जाए, जिससे उसका अंत हो जाए। इसलिए जितनी दूरी का किराया स्वदेशी कंपनी एक रुपया लेती थी, एक जबर्दस्त अंग्रेज कंपनी ने उसी का किराया घटाकर एक आना कर दिया। वह तो स्वदेशी कंपनी में दो-चार ऐसे साधन संपन्न व्यक्ति थे, जो हानि उठाने को भी तैयार हो गये, अन्यथा यह कंपनी कुछ महीने में ही खत्म हो जाती।

ठीक ऐसी ही घटना मद्रास में भी हुई थी। चिदंबरम् पिल्ले ने 'स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कंपनी' खोली थी। अंग्रेज कंपनियों ने उसकी प्रतियोगिता करने के लिए अपना किराया इसी प्रकार रुपया से एक आना कर दिया और फिर तरह-तरह के अभियोग लगाकर श्री चिदंबरम् को जेल भी भिजवा दिया। इस तरह की घटनाएँ बतलाती हैं कि विदेशी शासन में देश की औद्योगिक उन्नति करना कितना कठिन था ? वे लोग पहले अपने देश वालों के लाभ का ख्याल रखते थे और ऐसे ही कायदे-कानून बनाते थे, जिससे उनको सुविधा मिले। वे जानते थे कि यदि इस देश के निवासी उद्योग-धंधों में अग्रसर हो गये, तो विलायत के कारखाने वाले और मजदूर भूखों मरने लगेंगे। प्रफुल्ल बाबू इन सब बातों को खूब समझते थे, तो भी उन्होंने देश में नये-नये कारोबारों का बीजारोपण किया और किसी प्रकार का लाभ न होने पर भी उनको पूरे श्रम और लगन से चलाया।

इतनी तरह की बाधाएँ और साधनों की अल्पता होते हुए भी उन्होंने अनेक उद्योग-धंधों को और विशेषतः 'बंगाल कैमिकल वर्क्स' को किस प्रकार सफल बनाकर दिखा दिया, इसकी विवेचना करते हुए एक लेखक ने बताया है कि—"प्रथम तो वे एक बहुत बड़े वैज्ञानिक थे और स्वयं समस्त गुत्थियों को सुलझाने में सामर्थ्य रखते थे। दूसरी बात यह कि उन्हें योग्य साथी भी मिले। याद रखना

चाहिए कि कोई व्यक्ति अकेला एक बड़ा काम नहीं कर सकता। इसके लिए उसे दूसरों की सहायता की आवश्यकता होती है। तीसरी बात यह थी कि उनके सामने उद्देश्य था देश की सेवा, न कि मुनाफा करना। कहा जाता है कि जिन दिनों 'बंगाल कैमिकल' का कारोबार घुटनों के बल ही चल रहा था और थोड़ी पूँजी से काम चलाया जा रहा था, किसी गलती के कारण एक 'सिरप' (दवा का शर्बत) की दो सौ शीशियाँ खराब हो गईं। कंपनी के कर्मचारियों ने प्रफुल्ल बाबू से कहा—"उस 'सिरप' में मामूली खराबी है, आप चिंता न करें, हम इसे आसानी से चला लेंगे। खरीददारों को पता भी नहीं लगेगा, बहुत मामूली नुक्स है।"

पर आचार्य राय की विचारधारा इससे भिन्न थी—"ऐसा करना जनता के साथ विश्वासघात करना होगा। हम कभी जीते जी ऐसा धोखा चलने नहीं देंगे।" बस उन्होंने उसी समय उन २०० शीशियों को मँगाया और अपने सामने नाली में डलवा दिया। उन्होंने इस विषय में किसी पर विश्वास नहीं किया। उनके विचारानुसार विज्ञान का उद्देश्य जनता की सेवा करना था, न कि उसे ठगना या लूटना।

यूनीवर्सिटी कॉलेज ऑफ साइंस—

प्रफुल्ल बाबू देश हित की दृष्टि से ही विज्ञान की आराधना करते थे, इसका एक प्रमाण यह भी था कि जिस काम में उनको विज्ञान की उन्नति और प्रचार की संभावना जान पड़ी, उसी को उन्होंने अपना लिया। इस काम में उन्होंने कभी व्यक्तिगत हानि-लाभ की चिंता नहीं की। जिस समय वे प्रेसीडेंसी कॉलेज में प्रोफेसर का कार्य कर रहे थे, उनको राजशाही कॉलेज में प्रिंसीपल पद के लिए बुलाया गया। यह पद वेतन और सम्मान की दृष्टि से प्रोफेसर के पद की अपेक्षा ऊँचा था। पर प्रफुल्ल बाबू ने यह सोचकर कि छोटे नगरों के कॉलेजों में विज्ञान की शोध-खोज करने के उतने साधन नहीं मिल सकते जितने कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कॉलेज में प्राप्त हैं, उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

पर जब कलकत्ता यूनीवर्सिटी ने सर टी० एन० पालित की सहायता प्राप्त करके एक स्वतंत्र 'विज्ञान कॉलेज' खोला, जिसका उद्देश्य भारत में मौलिक वैज्ञानिक खोजों को उत्तेजन देना था, तो

वे प्रेसीडेंसी कॉलेज को छोड़कर उसमें आ गये। उनको यही जान पड़ा कि यह केवल शिक्षक का ही पद नहीं है, वरन् देश की एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करने वाला पुण्य-कार्य भी है। इसलिए यद्यपि वे उसमें २१ वर्ष तक काम करते रहे और नियमानुसार वेतन भी पाते रहे, पर उसमें से उन्होंने एक पैसा भी अपने लिए नहीं रखा। उस समस्त रकम को विज्ञान की उन्नति के लिए यूनीवर्सिटी को ही दान करते रहे। इस प्रकार उन्होंने 'विज्ञान कॉलेज' को दो लाख रु० की रकम दान के रूप में दी। इसके साथ ही वे उस कॉलेज की उन्नति के लिए किस प्रकार तन-मन-धन से संलग्न रहते थे, इसका कुछ अनुमान उनके उस भाषण में से किया जा सकता है, जो उन्होंने 'ब्रिटिश साम्राज्य के विश्वविद्यालयों का सम्मेलन' के सम्मुख कलकत्ता यूनिवर्सिटी के प्रतिनिधि की हैसियत से सन् १९२६ में विलायत में दिया था—

"हमारे 'विज्ञान कॉलेज' का अस्तित्व बंगाल के दो महान् पुरुषों की उदारता का कृतज्ञ है। इनमें से प्रथम हैं—सर तारक नाथ पालित, जिन्होंने अपने मृत्यु से कुछ ही समय पूर्व उसके लिए ९५ लाख रु० का दान दिया। ये सज्जन केवल एक वकील थे और कलकत्ता विश्वविद्यालय को अपना सर्वस्व दान कर देने के कारण उन्हें अपनी संतानों को वारिस के अधिकार से वंचित करना पड़ा था।"

"इन्हीं के जैसे दूसरे पुरुष थे—स्व० रास बिहारी घोष। ये भी वकील थे। इस पेशे में यह सबसे अग्रगामी और बुद्धिशील व्यक्ति माने जाते थे। इन्होंने भी लगभग अपना सर्वस्व—प्रायः २३ लाख रुपया विज्ञान कॉलेज को दे दिया। इस प्रकार भारतवासियों की तरफ से हमको सब तरह से सहायता प्राप्त हुई है और इस समय हमारे कॉलेज की संपत्ति ६० लाख रु० की है।"

"पर भारत सरकार ने हमारे लिए क्या किया ? जब-जब हम भारत सरकार या बंगाल सरकार के पास सहायता की प्रार्थना लेकर पहुँचे, तब हमको सदा एक ही जबाव दिया गया—"रुपया ही नहीं है, कहाँ से दें ?" पर जब बहुत बड़ी-बड़ी साम्राज्य विस्तार की योजनाओं को कार्य रूप में परिणित करना होता है तो कुबेर के भंडार

खुल जाते हैं। मेरे हिसाब से हमको जितनी सहायता मिलती है, उसमें से ६८ प्रतिशत जनता की और केवल दो प्रतिशत सरकारी है।"

देश के लिए इस कॉलेज का क्या महत्त्व है ? इसे थोड़े ही लोग जानते हैं। मेघनाथ साहा और श्री ज्ञानेंद्र चंद्र घोष जैसे खोज करने वाले भारत प्रसिद्ध वैज्ञानिक इसी के विद्यार्थी थे। श्री सी० बी० रमन ने भी इसी कॉलेज में रहकर अपनी आकाश शब्द, प्रकाश, रंग आदि के संबंध में वे महत्त्वपूर्ण खोजें कीं, कि जिनसे उनका नाम संसार में प्रसिद्ध हो गया और 'भौतिक विज्ञान' के लिए उनको 'नोबल पुरुस्कार' दिया गया। श्री रमन की इस महत्ता को समझकर ही प्रफुल्ल बाबू ने अपनी आत्म-कथा में लिखा था कि—"अगर कलकत्ता यूनीवर्सिटी कॉलेज ने विज्ञान जगत् को केवल एक डॉ० रमन ही दिया होता और कुछ भी न किया होता तो भी इसकी स्थापना का महान् उद्देश्य पूरा हुआ समझ लिया जाता।"

बाढ़ के समय सेवा कार्य—

सन् १६२२ में उत्तर बंगाल में भयंकर बाढ़ आई। रेलवे लाइन के बाँधों के कारण पानी की निकासी कम हो गई थी। इसलिए जब सात दिन तक लगातार जोर से बरसात होती रही, तो नदी-नालों में पानी उमड़ने लगा और रेल की पटरी उससे डूब गई। जब यह समाचार अखबारों में छपा तो सुभाष बाबू जाँच करने स्वयं वहाँ पहुँचे और स्थिति की गंभीरता को समझकर उन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यालय, बंगाल युवक-मंडल तथा प्रफुल्ल बाबू के पास तार द्वारा खबर भेजी। कलकत्ता की सभा में सभी वर्गों के लोग बड़ी संख्या में सम्मिलित हुए और एक सहायता-समिति बनाई गई, जिसके अध्यक्ष प्रफुल्ल बाबू ही थे। उन्होंने सहायता के लिए एक बड़ी धनराशि इकट्ठी की और यूनीवर्सिटी के प्रोफेसरों तथा विद्यार्थियों में से स्वयंसेवक संग्रह करके यूनीवर्सिटी की इमारत में पीड़ितों की सेवा की व्यवस्था करने लगे। इस कार्य में उन्होंने कितना परिश्रम किया और असहाय लोगों की रक्षा की, इसका जिक्र करते हुए विलायत के 'मैंचेस्टर गार्जियन' नामक समाचार-पत्र में

उसके अंग्रेज संवाददाता का जो पत्र छपा था, उसमें कहा गया था—

दो हजार वर्गमील के क्षेत्र में यह संकट फैला हुआ है। यद्यपि मरने वालों की संख्या ६० ही है, पर कई हजार घर गिर गये हैं और १२००० हजार पशु डूबकर मरे हैं। ५०० वर्गमील की समस्त फसल नष्ट हो गई है।

"जब यह संकट आया तब सरकार वहाँ से बहुत अधिक ऊँचाई पर 'दार्जिलिंग' में बैठी हुई थी। अंत में उसने भी सहायता भेजी, पर लोकमत के दबाव से भेजी, नाराज होकर भेजी और अपूर्ण भेजी। कुछ भी हो बंगाल की जनता पर उसका यही प्रभाव पड़ा।"

"इस परिस्थिति में रसायनाचार्य सर पी० सी० राय ने आगे बढ़कर इस कार्य को अपने हाथ में लिया। जो काम सरकार को करना था, उसको पूरा करने को उन्होंने जनता का आह्वान किया। लोगों ने उनके आदेश को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया और एक महीने में तीन लाख चंदा जमा किया। धनवान् स्त्रियों ने अपने गहने और रेशमी वस्त्र दे डाले और गरीबों ने अपने फालतू कपड़े फंड में जमा करा दिये। सैकड़ों नवयुवक गाँवों में जाकर इस सामग्री को गाँव वालों तक पहुँचाने के लिए स्वयंसेवक बन गये।"

"जनता ने इस कार्य में जो इतना उत्साह दिखलाया, उसका एक कारण तो यह था कि लोग विदेशी सरकार की अकर्मण्यता का पर्दाफाश कर देना चाहते थे। कुछ अंशों में इसका कारण पीड़ितों के प्रति सच्ची सहानुभूति भी थी। पर सबसे बड़ा कारण श्री प्रफुल्लचंद्र राय का उल्लेखनीय व्यक्तित्व और उनकी प्रतिष्ठा ही था। वे विश्व विख्यात वैज्ञानिक हैं। यद्यपि उनको कट्टर असहयोगवादी तो नहीं कहा जा सकता, पर वे पक्के राष्ट्रवादी हैं और सरकार की कठोर आलोचना करने वाले हैं। इसके अतिरिक्त वे सच्चे संगठन करने वाले और सच्चे शिक्षक भी हैं। मैंने एक योरोपियन को यह कहते सुना कि अगर महात्मा गाँधी केवल दो नये पी० सी० राय तैयार कर लेते तो वे इसी वर्ष में स्वराज्य प्राप्त कर लेते। एक बंगाल विद्यार्थी ने मुझसे कहा कि—'अगर किसी सरकारी अफसर ने या असहयोगी नेता ने चंदा की अपील की होती तो जनता ने तीन पैसा भी न दिया

होता। पर जब सर पी० सी० राय माँगने को खड़े होते हैं, तो लोग विश्वास करते हैं कि उनके पैसे का सदुपयोग ही होगा और एक पाई भी बेकार नहीं जाएगी।"

सन् १६३१ में फिर भयंकर बाढ़ आई, जो १६२२ की बाढ़ से भी अधिक फैली हुई और नाशकारी थी। उत्तर और पूर्व बंगाल का बहुत बड़ा भाग उससे प्रभावित हुआ। इसमें भी सहायता-कार्य का नेतृत्व प्रफुल्ल बाबू को करना पड़ा और उन्होंने बहुत अधिक सहयोग, संलग्नता और मितव्ययिता से इसको पूरा किया।

सार्वजनिक जीवन और खादी प्रचार—

एक विश्वविख्यात वैज्ञानिक जिनको अपना अधिकांश समय अपनी प्रयोगशाला के भीतर रासायनिक पदार्थों का विश्लेषण करते हुए व्यतीत करना पड़ता है और जिसकी दुनिया प्रायः अपने विद्यालय के कुछ सौ विद्यार्थियों तक ही सीमित रहती है, उससे यह आशा करनी कि शहरों और गाँवों का दौरा करके सार्वजनिक आंदोलन में भाग लेगा, एक कठिन बात है। पर प्रफुल्ल बाबू ने सरकारी नौकरी करते हुए और अपने विज्ञान संबंधी कार्यों को पूरा करते हुए, सार्वजनिक जीवन में जितना भाग लिया, वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस संबंध में उन्होंने स्वयं अपनी "एक बंगाली रसायनशास्त्री की जीवन कथा और परीक्षण" नामक पुस्तक में इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"सन् १६२१ में मैंने खादी और राष्ट्रीय शिक्षा में प्रमुख भाग लिया और प्रत्यक्ष राजनीतिक आंदोलन में भी काम किया है। कितनी जिला परिषदों में मुझे अध्यक्ष पद का कार्य करना पड़ा है, अछूतों के सम्मेलन का भार ग्रहण करना पड़ा है। खुलना के अकाल और बाढ़ के नेतृत्व का भार भी मुझे सौंपा गया है। मोटे हिसाब से जान पड़ता है कि पिछले दस वर्ष के भीतर मैंने इस प्रदेश में जो यात्राएँ की हैं, उनकी सम्मिलित लंबाई दो लाख मील से कम नहीं है। इसके अतिरिक्त १६२० में चौथी बार और १६२६ में पाँचवीं बार मुझे इंग्लैंड का भी सफर करना पड़ा।"

रोलट एक्ट और जलियाँवाला बाग के हत्याकांड के फलस्वरूप देश में जिस प्रचंड असहयोग आंदोलन का आविर्भाव

हुआ था, उसमें सरकार से बिना किसी प्रकार का प्रत्यक्ष संघर्ष किए, प्रफुल्ल बाबू ने पूरा-पूरा और महत्त्वपूर्ण भाग लिया। उन्होंने 'राष्ट्रीय शिक्षण-समिति' के अध्यक्ष का कार्य किया और महात्मा गाँधी के खादी आंदोलन में तन-मन-धन से सहयोग दिया। जिस प्रकार अधिकांश पढ़े-लिखे व्यक्ति आरंभ में खादी का उपहास करते थे, उसी प्रकार आचार्य राय भी उस पर हँसते ही थे, पर अंत में वे उसके परम उपासक बन गये। इस संबंध में उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है—

"खादी के संबंध में यदि मेरे पिछले सात-आठ वर्ष के लेख और भाषणों का संग्रह किया जाए, तो एक बड़ा भारी ग्रंथ बन सकता है। पर हमारे बुद्धिजीवी लोगों का एक दल, जो क्रियात्मक या निर्माणात्मक कार्य कुछ भी नहीं करता और केवल आराम कुर्सियों पर पड़े-पड़े हँसी-मजाक में समय गुजारा करता है, उसकी उपेक्षा के भाव को दूर करने के लिए इस विषय में अधिक जोर देना आवश्यक है। चर्खा केवल एक आशीर्वाद ही नहीं है, वरन् अकाल का तो एक बीमा है। बंगाल के बाढ़ संकट के समय परीक्षण के लिए गाँवों के निवासियों को एक हजार चर्खे दिये गये। चार-पाँच महीने के बाद ही वहाँ मनों सूत इकट्ठा हो गया। आस-पास के बुनने वालों ने ही उसका कपड़ा तैयार कर दिया। इससे बुनकरों को भी सहायता मिली। यह कार्य इतना सफल सिद्ध हुआ कि सन् १९३१ में जब जूट की कीमत बहुत गिर गई, तो उसकी खेती करने वाले किसानों ने चर्खे की इतनी अधिक माँग की कि हम उसे पूरा भी न कर सके। रुपया द्वारा सहायता देने से तो देने और लेने वाले, दोनों का पतन होता है, पर जब किसी को इस प्रकार का स्वतंत्र उद्योग बतला दिया जाता है तो उसका स्वमान कायम रहता है।"

चर्खे का समर्थन वे केवल भावुकतावश नहीं करते थे, वरन् अपनी विश्लेषण करने वाली बुद्धि से उन्होंने परिस्थिति का जो निष्कर्ष निकाला था, उसके आधार पर वे तर्क द्वारा इसे सिद्ध करते थे। उन्होंने लिखा है—

"बंबई की कपड़े की मिलों और हावड़ा की जूट मिलों में आजकल (सन् १९३२ में) तीन से चार लाख तक मजदूर काम करते

हैं। एक-दो लाख लोगों को कानपुर की मिलों में काम मिल जाता है। भारत के समस्त उद्योग केंद्रों में इस समय अधिक से अधिक २० लाख मनुष्य काम करते हैं। पर भारतवर्ष की इस समय की शेष आबादी (३१ करोड़ ८० लाख) का क्या हो ? जब तक मैंचेस्टर, लिबरपुल, ग्लासगो और डंडी जैसी विशाल उद्योग केंद्रों की स्थापना हमारे देश में भी न हो जाए और गाँवों के ७० प्रतिशत आदमी शहरों में जाकर न बस जायें, तब तक क्या तुम राह देखा करोगे ? क्या तुम भारत के लाखों गाँवों का औद्योगीकरण कर सकते हो।' मैं तो समझता हूँ कि समस्त भारत में औद्योगीकरण के लिए तुमको प्रलयकाल तक राह देखनी पड़ेगी।"

स्वावलंबी जीवन व्यतीत करने वाले आचार्य राय का स्वभावतः ही यह विश्वास था कि हम अपने देश का सुधार और उद्धार अपने ही साधनों और प्रयत्नों से कर सकेंगे। दूसरा कोई राष्ट्र हमें उस प्रकार की सहायता देने को कदापि तैयार न होगा, जिससे हम इतने शक्तिशाली बन जायें कि कुछ समय बाद उसकी भी परवाह न करें। इसलिए सच्ची आंतरिक और बाह्य शक्ति तो मनुष्य के स्वयं साहस करके आगे बढ़ने और सब प्रकार के कष्ट सहन करने के लिए तैयार होने से ही प्राप्त होगी, न कि किसी दूसरे की कृपा से। इसलिए उन्होंने चर्खा और खादी का समर्थन किया, क्योंकि ये वस्तुएँ हमारी अपनी हैं और हम हजारों वर्ष तक इनको बनाकर अपनी आवश्यकता पूरी करते रहे थे। पर मशीनें और इंजिन आदि ऐसी चीजें हैं—कम से कम आचार्य राय के समय में—जिनके लिए हमें विदेशियों पर आश्रित रहना पड़ेगा। इसीलिए उन्होंने 'गुजरात विद्या पीठ' का शुभारंभ करते हुए सन् १९२३ में ही कहा था—"राष्ट्रों का निर्माण अपने पराक्रम से ही होता है। हमको स्वराज्य अपने परिश्रम से प्राप्त करना होगा। अगर यह कठिन तपस्या—श्रम द्वारा प्राप्त किया जाएगा, तभी उसे सच्चा स्वराज्य कहा जा सकेगा। अगर अन्य कोई स्वराज्य हमको भेंट की तरह दे दे, तो उसका मूल्य एक खोटा पैसा भी नहीं माना जा सकता।"

राष्ट्रीय-सम्मान की प्राप्ति—

यही सब कारण थे कि सरकारी नौकर होते हुए भी उनको प्रत्येक राष्ट्रीय संस्था में आमंत्रित किया जाता था और सम्मानपूर्वक स्थान दिया जाता था। काकीनाडा कांग्रेस (सन् १९२५) के अवसर पर जब उसके अध्यक्ष मो० मुहम्मदअली दोपहर की नमाज पढ़ने को उठे तो उनकी खाली कुर्सी पर किसी को बैठाया जाना था। ऐसे अवसर पर प्रायः स्वागताध्यक्ष उस स्थान को ग्रहण करता है, पर मौलाना ने दर्शकों की सम्मति पूछकर प्रफुल्ल बाबू को वहाँ बैठने को कह दिया। यद्यपि उनको वहाँ केवल दस मिनट तक ही बैठना पड़ा, पर इससे प्रकट हो गया कि देश के सब श्रेणियों के व्यक्तियों की दृष्टि में उनका कितना अधिक सम्मान था ?

जिस समय आचार्य राय गुजरात विद्यापीठ का शुभारंभ करने अहमदाबाद गये, उस अवसर उनका स्वागत करते हुए आचार्य कृपलानी ने, जो एक प्रसिद्ध विद्वान् और शिक्षा विशारद होते हुए प्रमुख राजनैतिक नेता भी थे, उनके गुणों और महत्ता पर अच्छा प्रकाश डाला था। उससे प्रकट होता है कि आचार्य राय ने वास्तव में अपने शिष्यों को सुयोग्य देशभक्त और समाज सेवक बनाने के लिए कितना प्रयत्न किया था—

"समाज के सुधारने के संबंध में आपकी सेवाएँ सर्वत्र विदित हैं। अपनी प्रिय सरस्वती देवी को पूजते-पूजते आप मातृभूमि और मानव जाति को भी भूल गये। कितने ही लोग मानवमात्र की एकता और उसके सेवक होने की बात करते रहते हैं, पर वे इतना भी नहीं जानते कि मानव-सेवा का कार्य कहाँ से और कैसे आरंभ करना चाहिए ? इसलिए जब उनकी सेवा के लिए कोई केंद्र-बिंदु नहीं मिलता तो वे स्वयं अपने को ही 'केंद्र बिंदु' बना लेते हैं और अपनी ही सेवा में तल्लीन हो जाते हैं। पर आप 'मानव जाति की सेवा' के सिद्धांत को मानते हुए भी उसकी मर्यादाओं को समझते हैं। इसलिए आपने अपनी मानव-सेवा का केंद्र भारतवर्ष को—नहीं, बंगाल को ही बना लिया है। वहाँ पर आप मलेरिया ज्वर से पीड़ित दीन-दुःखियों की साधुओं की तरह सेवा करते हैं। जो लोग दुर्भाग्यवश दीन-हीन और पतित हो चुके हैं, उनके बीच में बैठकर उनकी सहायता की

चेष्टा करते हैं। बहुत-से लोग मिट्टी-पत्थर का काम करने वाले मजदूरों के फटे-टूटे वस्त्रों को देखकर सहानुभूति प्रकट किया करते हैं, पर उन स्वयं के कपड़े बहुत ही स्वच्छ और बढ़िया होते हैं। पर आपके कपड़ों को तो हमने उन्हीं दीन-दुःखियों की सेवा करते-करते मैला हो जाते देखा है।"

"आचार्य राय अपने शिष्यों को मित्र के समान रखते हैं। वास्तव में वे उनके सम्मुख बालकों की तरह ही हैं, पर उदार हृदय प्रफुल्ल बाबू उनको किसी प्रकार छोटा नहीं समझते। वे उनके ऊपर प्रेम की वर्षा करते रहते हैं और इसके उत्तर में वे लोग भी अपने पूजनीय आचार्य से उतना ही अधिक प्रेम रखते हैं और सब प्रकार की सेवा करने को सदैव प्रस्तुत रहते हैं। इसलिए आचार्य राय के घर में एक भी नौकर-चाकर नहीं रहता, उनके सब काम शिष्य लोग ही संपन्न कर देते हैं। यद्यपि वे शिष्यों को समानता का दर्जा देते हैं, पर वे कभी अवज्ञा या अनुचित व्यवहार नहीं करते, क्योंकि प्रफुल्ल बाबू का रहन-सहन तथा व्यवहार प्राचीन समय के गुरुकुलों की तरह सम्मान और भक्ति उत्पन्न करने वाला है।"

हम भी अगर हृदय से आकांक्षा करें तो अपने न्यूनाधिक साधनों से समाजसेवा का कोई न कोई ऐसा कार्य अवश्य कर सकते हैं, जिससे हमारा जीवन अपनी और दूसरों की दृष्टि में सार्थक सिद्ध हो सके।

❐ ❐

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।